साक्षात्कार

आंबेडकरवादी साहित्य का भविष्य अन्य धारा के साहित्य से कहीं अधिक उज्ज्वल है

वरिष्ठ साहित्यकार रत्नकुमार सांभरिया

रत्नकुमार सांभरिया अंतर्राष्ट्रीय स्तर के साहित्यकार हैं। गुणवत्ता की दृष्टि से उनके साहित्य के अपने प्रतिमान हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानियां, नाटक, लघुकथाएं, पुस्तक समीक्षाएं और आलोचना लिखी हैं। उनका साहित्य विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल हैं तथा एक बडी संख्या में शोधार्थी उनके साहित्य पर शोध कार्य कर रहे हैं। उनको राजस्थान साहित्य अकादमी का 'सर्वोच्च मीरा पुरस्कार' प्राप्त हुआ है। 'बेगमपुराःसभ्यता का आह्वान' द्विमासिक पत्रिका के लिए डॉ. अमित धर्मसिंह ने मा. रत्नकुमार सांभरिया का साक्षात्कार लिया है जिसके संपादित अंश यहां दिये जा रहे हैं।

अमित धर्मसिंह

जन्म : 18 जून 1986

शिक्षा : पीएच.डी-हिंदी, दिल्ली विश्वविद्यालय

पुस्तकें : काव्य संग्रह (1) 'आस-विश्वास', (2) 'हमारे गांव में हमारा क्या है' (3) 'कूड़ी के गुलाब'। **शोध आलेख**-साहित्य का वैचारिक शोधन **लेख व समीक्षाएं**-रचनाधर्मिता के विविध आयाम **संस्मरण व वैचारिकी**-खेल जो हमने खेले एवं दलित लेखक संघ की स्मारिका

संपर्क : 9310044324

ईमेल : amitdharmsingh@gmail.com

अमित धर्मसिंह : **आपने लिखने का क्षेत्र कथा साहित्य ही क्यों चुना, क्या इसकी कोई खास वजह रही, यह भी बताएं कि कहानी, लघुकथा, नाटक और उपन्यास जैसी जटिल विधाओं का सम्यक निर्वाह कैसे कर लेते हैं?**

सांभरिया : कहानी का परिदृश्य उज्ज्वल है। कहानी में कल और आज को समझने का वर्तमान होता है। जहां नाटक, कविता, महाकाव्य या खण्डकाव्य, डायरी या संस्मरण जैसी विधाओं को प्रकाशक प्रकाशित करने में हाथ खींचते नज़र आते हैं या फिर लेखक से पैसे लेकर छापते हैं। कोरोना काल की इन तीन भयावह लहरों के बाद तो स्थिति और चिंता-जनक होती गई है। बावजूद इसके कहानी या उपन्यास जैसी कथारसीय विधाओं के लिए यह संकट उतना नहीं गहराया। यदि कोई कथाकार छपास की अपनी भूख का शमन करने के लिए प्रकाशक से समझौता करे तो बात इतर है। साहित्यिक परिवेश में अगर कोई विधा अविचलित है तो वह कहानी ही है। कहानी अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता का जिस मुखरता से उद्घाटन करती है, वह उसकी खूबी में शुमार है। कहानी ही तो वह विधा है, जिसका वैचारिक पक्ष, कहें

अमित धर्मसिंह व रत्नकुमार सांभरिया

कि काल्पनिक सोच चाहे आकाशीय हो जाती हो, उसके कथानक की बुनावट के रेशे, पेड़ों की जड़ों की भांति जमीनी होते हैं। संवेदनाएं वाक्य में पूरती हैं, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी, 'उसने कहा था', मुंशी प्रेमचंद की 'ईदगाह', रेणु की 'मारे गये गुलफाम', जैनेन्द्र की 'पॉजेब', रांगेय राघव की 'गदल', राजेंद्र यादव की 'जहां लक्ष्मी क़ैद है', ज्ञानरंजन की 'फैंस के इधर-उधर', एडवोकेट भगवानदास की 'फसाद' कहानी को जिस प्रकार संवेदनाएं समेटे हैं वह उल्लेखनीय है। कहानी को एक ही बैठक में पढ़ने की जो ललक पाठक में होती है, कहानी का कथानक, कहानी के पात्र, कहानी का परिवेश और कहानी की भाषा-शैली उसकी आंखों में जिस प्रकार जी उठते हैं, वह कहानी के वजूद की जीवंतता है। निम्न वर्गों के जीवन की छटपटाहट को कहानियों में बखूबी बुना जा सकता है। इसके कतिपय उदाहरण मेरी 'फुलवा', 'खेत', 'चमरवा', 'चपड़ासन' आदि कहानियों में देखने को मिल जायेंगे।

साहित्यकार समाज में ही पैदा होता है और समाज में ही सांसें लेकर जीता है, उसकी वे सांसें समाज के रीति-रिवाजों और परंपराओं से जुड़तीं और उनमें से कुछ खोजती हैं। यह खोज कथानक चयन की खोज है। उसी कथानक को बुनते कहानी लिखना है, जिसमें उस समाज अथवा उस परिवेश का बिंब झलकता है। कहानी लिखने की कोई समयबद्धता नहीं होती है। कई बार एक कहानी तीन महीने में भी पूरी नहीं होती तो कई बार एक कहानी एक ही दिन में लिख ली जाती है, बतौर उदाहरण मेरी 'बूढ़ी' कहानी वागर्थ मई, 1999 के अंक में प्रकाशित हुई थी। वह कहानी मैंने टोंक में रहते हुए एक ही दिन में लिख ली थी। यह अलग बात है कि उस दिन मैं उसी कहानी को लिखने पर केंद्रित रहा। दूसरी बात, मेरी कहानी 'बिपर सूदर एक कीने' जिसे कथादेश अखिल भारतीय हिंदी कहानी प्रतियोगिता 2007 का प्रथम पुरस्कार, (प्रकाशन कथादेश, जनवरी 2008) प्राप्त हुआ, को मूर्त रूप देने में लगभग तीन महीने लग गए थे।

दलित साहित्य में कहानी और उपन्यास दो ऐसी महत्वपूर्ण विधाएं हैं, जिनके माध्यम से साहित्यकार पृष्ठभूमि और भावभूमि दोनों का निर्वाह बड़ी शिद्दत से कर सकता है। विचारणीय मुद्दा यह है कि दलित साहित्य में कहानियां तो लिखी गई हैं, लेकिन सलीके का कोई ऐसा उपन्यास सामने नहीं आया जो दलित साहित्य का प्रतिनिधि उपन्यास हो। दूसरी बात मैंने कहानी, लघुकथा, नाटक, उपन्यास चारों ही विधाओं में सृजन किया है। मेरे खाते 'आकार' नामक 54 शब्दों की लघुकथा से लेकर 424 पेज का 'सांप' उपन्यास भी है। रही बात यह कि इन चारों विधाओं पर लेखन में समन्वय बैठाना तात्त्विक विवेचन का गहनता से अध्ययन करना है। विधागत तात्त्विक विवेचन का ज्ञान नहीं होगा, वह विधा पूर्णता नहीं पा पाएगी। इसी तरह से इन चारों विधाओं के कथानकों का चयन भी अपनी दृष्टि से करना होता है। कथानक अछूते भी हों और शिल्पा-सौष्ठ की दृष्टि से उनको बुना भी गया हो।

अमित धर्मसिंह : **आप मूलतः हरियाणा से संबंध रखते हैं और काफी अरसे से राजस्थान निवासी हैं, इन दोनों राज्यों की अपनी-अपनी भाषाएं और लोक-बोलियां हैं। बावजूद इसके, हिंदी का इतना सटीक मुहावरा कैसे गढ़ लेते हो?**

सांभरिया : मैं 23 साल तक हरियाणा में रहा। हरियाणा के परिवेश बोली-भाषा, पहनावा और वहां के

रीति-रिवाजों से संलग्न रहा। उसके बाद मैं राजस्थान आ गया और राजस्थान में ही रच-बस गया। मुझे कहने में कोई उज्र नहीं है कि जहां हरियाणा ने जन्म दिया, वहीं राजस्थान ने मुझे रोजी-रोटी दी। जन्म और रोजी-रोटी दोनों का अपना-अपना महत्व है। यहां आकर मैं राजस्थानी परिवेश में रमता चला गया। यहां का भौगोलिक परिदृश्य और भाषा का माहौल मेरे साहित्य में रचता-बसता गया है। मेरी रचनाओं में प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियां तथा शब्दों का नवाचार राजस्थानी और हरियाणा दोनों भाषाओं का समन्वय है। भाषा-बोली उस समय मेरे सामने चुनौती बनकर खड़ी हो गई, जब मैं 'सांप' उपन्यास का सृजन कर रहा था। यह उपन्यास सपेरा-कालबेलिया, नट-मदारी, कुचबंदा, बहुरूपिया, पेरना, बाजीगर, कलंदर आदि दस-बारह जातियों की दुश्वारियों को लेकर लिखा गया है, जो लगभग साढ़े चार साल में पूरा हुआ। ये वे जनजातियां हैं, जो आज भी 'धरती बिछाती है, आकाश ओढ़ती है, अपने पसीने से नहा लेती हैं और भूख खाकर सो जाती है।' क्योंकि ये लोग खानाबदोश हैं। अत: उनकी बोलियां भी राजस्थान की बोलियों से इतर हैं। मैंने छह महीने तक इन्हीं जनजातियों के बीच रह कर इनके जीवन के त्रास का अध्ययन किया। उनके हवा-पानी से थोड़ा घुला-मिला। उनकी बोलियों का अल्पाज्ञान प्राप्त किया।

अमित धर्मसिंह : **आपका प्रथम उपन्यास 'सांप' काफी चर्चित रहा, उस पर राजस्थान साहित्य अकादमी का सर्वोच्च सम्मान मीरा पुरस्कार भी मिला, वह घुमंतुओं के जीवन पर आधारित था। हाल ही में, आपका दूसरा उपन्यास नटनी प्रकाशित हुआ है, वह भी घुमंतुओं से ही संबंधित है, घुमंतुओं को उपन्यास का विषय बनाने की कोई खास वजह?**

सांभरिया : 'सांप' उपन्यास में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह हरियाणवी, राजस्थानी और खानाबदोशी तीनों ही भाषा का समन्वय है। अगर इस उपन्यास में खानाबदोशी भाषा का ही प्रयोग हुआ होता तो यह उपन्यास आम पाठक का नहीं रह जाता। फक्र की बात यह है कि आज यह उपन्यास देश के दो विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल हुआ है तथा डॉ. रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूं' और *''रत्नकुमार सांभरिया का 'सांप' उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन''* से पीएच.डी. शोध कार्य प्रारंभ हुआ है। मेरा दूसरा उपन्यास 'नटनी' भी इसी परिवेश का है। इन दोनों उपन्यासों के अतिरिक्त मेरी 15 कहानियां भी 'हाशिए का समाज' कथानकों पर सृजित हैं। सृजन में शिल्प-सौष्ठव ही लेखक की पहचान होता है। इसे आप सटीक मुहावरा भी कह सकते हैं। क्योंकि दलित साहित्यकारों के द्वारा दलित पृष्ठभूमि पर तो बहुत लिखा गया, लेकिन 'हाशिए का समाज' जो भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग है और वह अंग न केवल सामाजिक दृष्टि से ही बल्कि साहित्यिक क्षेत्र में भी उपेक्षित रहा। साहित्यकार होने के नाते मेरा ध्यान इन लोगों की दुश्वारियों की ओर गया और उनकी वे दुश्वारियां निर्वासन से पुनर्वास तक का साकार रूप है। हमें घुमन्तू लोगों के जीवन की ओर भी अपनी कलम को उन्मुख करना चाहिए।

अमित धर्मसिंह : **आपके जितने भी नाटक, कहानी, लघुकथाएं और उपन्यास के मुख्य पात्र हैं, वे सभी दबे, कुचले और वंचित समाज से आते हैं, किंतु वे शोषक समाज के पात्रों पर भारी पड़ते हैं, जबकि असल में ऐसा बहुत कम होता है, इसके बारे में आप क्या कहना चाहते हैं?**

सांभरिया : मेरे सृजन का स्वरूप बहुआयामी है। मूलत: मैं दलित चेतना का पक्षधर हूं। पात्र का रोना, गिड़-गिड़ाना, समझौता परस्ती, उत्पीड़न और अत्याचारों का झेलना मेरे सृजन का ध्येय नहीं है। भाग्य-

---

जीवन, जज्बा और जिजीविषा के फलस्वरूप मेरी कहानियों के पात्र ना हताश होते हैं, ना निराश होते हैं, ना थकते-हारते हैं, विषम परिस्थितियों का सामना करते मान-सम्मान, स्वा- भिमान और मर्यादा का जीवन जीते हैं।

भगवान, देवी-देवता, जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत, पितर पचवीर जैसी अलौकिक यूं कहें कि अंध-विश्वासी सोच से दलितों का पीछा छूटे और वे अपने सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख हों, आज दलितों को सहानुभूति की नहीं, सम्मान और समानता की दरकार है।

जीवन, जज्बा और जिजीविषा के फलस्वरूप मेरी कहानियों के पात्र ना हताश होते हैं, ना निराश होते हैं, ना थकते-हारते हैं, विषम परिस्थितियों का सामना करते मान-सम्मान, स्वाभिमान और मर्यादा का जीवन जीते हैं। मेरा मानना है कि कहानी का पात्र जाति से चाहे कितना छोटा हो, उसकी प्रकृति पीपल के बीज जैसी होनी चाहिये। पीपल का एक छोटा सा बीज पत्थर को फाड़कर उग जाता है और अपना आकार लेता जाता है।

मैं कथानाक के चयन, पात्रों के नामकरण और भाषा शैली पर विशेष ध्यान दिया करता हूं। दलित लेखन को एक चुनौती के रूप में लेता हूं। क्योंकि दलित साहित्य श्रेष्ठता का नाम है। यहां गणना (Quantity) नहीं, गुणवत्ता (Quality) महत्त्वपूर्ण है। गुणवत्ता के बरअक्स ही आज मेरी कहानियां और नाटक देश भर के लगभग बीस विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हैं। लगभग तीस शोधार्थी मेरे साहित्य पर एम.फिल और पी-एच.डी. कर चुके हैं अथवा कर रहे हैं। जिस शख्स को एक-एक शब्द सीखने के लिए लाख-लाख पापड़ बेलने पड़े हों उसके सृजन को विश्वविद्यालयों में मान्यता मिली और शोध कार्य हो रहा है, साहित्य जगत में दलित साहित्य की इससे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है?

'हाशिए का समाज' जो भारतीय समाज का एक अभिन्न अंग है और वह अंग न केवल सामाजिक दृष्टि से ही बल्कि साहित्यिक क्षेत्र में भी उपेक्षित रहा। साहित्यकार होने के नाते मेरा ध्यान इन लोगों की दुश्वारियों की ओर गया और उनकी वे दुश्वारियां निर्वासन से पुनर्वास तक का साकार रूप है। हमें घुमन्तू लोगों के जीवन की ओर भी अपनी कलम को उन्मुख करना चाहिए।

अमित धर्मसिंह : **आप करीब आठ नाटक, चौवन कहानियां, डेढ़ सौ लघु कथाएं और दो वृहत उपन्यास रच चुके हैं। आपकी तरह दलित साहित्य में अपेक्षाकृत, कथा साहित्य बहुत कम आ रहा है, जितना आ रहा है, वह भी अधिकतर स्तरीय नहीं, आप इसकी क्या वजह मानते हैं?**

सांभरिया : जैसा मैंने कहा है साहित्य में गणना के लिए गुणवत्ता की आवश्यकता होती है। मेरी 54 कहानियां हैं, लेकिन इन कहानियों में से एक भी कहानी दलित पत्रिका में नहीं छपी। जबकि सभी कहानियां अमेरिका से संपादित 'अन्यथा' पत्रिका से लेकर 'हंस', 'कथादेश', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'अक्षरा', 'वागर्थ' सहित देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार 'सांप' उपन्यास के 35 अध्यायों में 34 अध्याय विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छाया हुए। आठ में से तीन नाटक प्रकाशित हुए। जो साहित्य स्तरीय नहीं होगा, पाठक उसे पीछे धकेल देगा। आपका यह कहना समीचीन जान पड़ता है कि आज दलित साहित्य अपेक्षाकृत कम आ रहा है और जो प्रकाशित हो रहा है, वह चूका-चूका-सा नजर आ रहा है।

अमित धर्मसिंह : **भारत में मार्क्सवादी, जनवादी और दलित साहित्य का आपको क्या भविष्य दिखाई पड़ता है? आपको क्या लगता है कि इनमें से अभी कौन लंबा जाएगा और क्यों?**

सांभरिया : आप साहित्य को खानों में बांटना चाहें तो बांट सकते हैं। मार्क्सावादी साहित्य, प्रगतिशील साहित्य, जनवादी साहित्य और दलित साहित्य जो अब आंबेडकरवादी साहित्य के नाम से जाना जाने लगा है। इन सब की धारा प्रगतिकामी है। यानी साहित्य के माध्यम से सबके मन-मस्तिष्क का विकास। साहित्य लंबा जायेगा या वहीं ठहर जाएगा, इसका आक्कलन वक्त करेगा। मेरे

विचार से आंबेडकरवादी साहित्य का भविष्य अन्य धारा के साहित्य से कहीं अधिक उज्ज्वल है।

अमित धर्मसिंह : **इन दिनों दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य और ओबीसी साहित्य को मिलाकर बहुजन साहित्य बनाने की कवायद चल रही है, आपका इस बारे में क्या ख्याल है?**

सांभरिया : वैसे यह कोई बुरी बात नहीं है कि दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य और ओबीसी साहित्य को एकरूप कर 'बहुजन साहित्य' नाम दिया जा रहा है, लेकिन दलित, आदिवासी और ओबीसी इन सबकी मानसिकता पृथक-पृथक है। सोच का दायरा भी इतर है। अन्य पिछड़ा जाति के लोग आदिवासियों और दलितों से दूरी बना कर रहना चाहते हैं। आदिवासी भी आज तक दलितों में कहां मिला-जुला है। दलितों के प्रति आदिवासियों में भी जातिगत भेदभाव की भावना निहित है। जब भावनाएं अलग-अलग हैं, विचारों का प्रवाह पृथक-पृथक है, सोच-समझ का दायरा इतर है तो समूचा साहित्य एक कैसे हो पाएगा। बहुजन साहित्य समन्वय-वादी विचार है, समरसता का आदर्श है। लेकिन इसकी क्रियान्विति कहीं कठिन है, क्योंकि जातिगत भेदभाव होते हुए साहित्य धारा एक कैसे रह सकती है। प्राय: देखा गया है कि ओबीसी के लोग भी दलितों के उत्पीड़क हैं। अब आप ही बताएं कि शोषक और शोषित का साहित्य एक समान कैसे हो सकता है। हां, अगर जाति भेदभाव को मिटाने का प्रयास तीनों करें तो साहित्य भी समुन्नत होगा।

दमदार कथानक जेहन में आने के उपरांत ही मैं कहानी लिखने का मन बनाता हूं। मंथन करते मस्तिष्क में उसे परिपक्व होने देता हूं। परिपूर्ण प्रसव के बाद प्रसूता को निवृत्ति और प्राप्ति की जो सुखद अनुभूति होती है, परिपक्व रचना लिखने के बाद लेखक वैसे ही दोहरे संतोष का फल पाता है।

अमित धर्मसिंह : **आपके नाम के साथ दलित साहित्यकार की अपेक्षा जनकथाकार बहुतायत प्रयोग होता है, आपकी नजर में इसकी कोई खास वजह?**

सांभरिया : इसका कारण यह है कि मेरा साहित्य उन लोगों के हृदय को भी स्पर्श कर रहा है, जो दलितों में भी दलित हैं। विशेषत: घुमंतू और जनजातियों का सामाजिक परिवेश मेरे साहित्य में समावेशित है। क्योंकि मेरा साहित्य जन की भावना से जुड़ा है, इसलिए साथी साहित्यकार मेरे नाम के साथ जनकथाकार का विशेषण लगाने लग गए हैं। दलित होने के नाते दलित साहित्यकार तो मैं हूं ही इसी रूप में मेरी पहचान भी है। साहित्यकार चाहे दलित हो या गैर दलित उसका सृजन 'के लिए' होना चाहिए न कि 'के ऊपर' यानी उसमें सहानुभूति की बजाय स्वानुभूत प्रतिपादित हो।

अमित धर्मसिंह : **अभी तक आपके लेखन पर कुल कितने शोध कार्य हो चुके हैं अथवा हो रहे हैं? आपके लेखन पर कितने पुरस्कार अथवा सम्मान आदि मिले हैं? क्या आप इन सबको लेकर पर्याप्त संतुष्ट हैं? भविष्य में और क्या रचने और हासिल करने की तमन्ना है?**

सांभरिया : अभी तक मेरे साहित्य पर लगभग 48 एफ.फिल और पी-एचडी ओ चुकी हैं अथवा हो रही हैं। देश के लगभग 42 विश्वाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में मेरी रचनाएं शामिल हैं। अकेली 'फुलवा' कहानी जो मेरी पहली कहानी है, 'हंस' पत्रिका के मई, 1997 के अंक में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी आज देश के 22 विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जा रही है। रही बात पुरस्कारों की मुझे नवज्योति कथा सम्मान 'आखेट' कहानी पर वर्ष-1998, राष्ट्रीय सहारा कहानी प्रतियोगिता का पुरस्कार तत्कालीन उपराष्ट्रपति भैरोंसिंह शेखावत द्वारा 'चपड़ासन' कहानी पर वर्ष-2005, कथादेश अखिल भारतीय हिंदी कहानी प्रतियोगिता का प्रथम पुरस्कार 'बिपर सूदर एक कीने' कहानी पर वर्ष-2007, राजस्थान पत्रिका का सृजनात्मक पुरस्कार-2008 'खेत' कहानी पर, हरियाणा साहित्य अकादमी का हरियाणा गौरव सम्मान-2014, मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार के केंद्रीय हिंदी संस्थान

आगरा का सुब्रह्मण्य भारती साहित्य पुरस्कार-2017, राजस्थान साहित्य अकादमी का सर्वोच्च मीरा पुरस्कार 2023 (सांप उपन्यास पर), माता रमाबाई सामाजिक उत्थान संस्थान रेवाडी, हरियाणा (सर्वश्रेष्ठ पुस्तक पुरस्कार सांप उपन्यास पर) प्राप्त हैं।

एक महत्त्वपूर्ण बात जो पूछी नहीं गई है, वह मेरी रचना प्रक्रिया के बारे में है। मैं कहानी लिखते वक्त पांच चरणों से गुजरता हूं। (1) कथानक चयन (2) लेखक (3) संपादक (4) आलोचक (5) पाठक।

(1) दमदार कथानक जेहन में आने के उपरांत ही मैं कहानी लिखने का मन बनाता हूं। मंथन करते मस्तिष्क में उसे परिपक्व होने देता हूं। परिपूर्ण प्रसव के बाद प्रसूता को निवृत्ति और प्राप्ति की जो सुखद अनुभूति होती है, परिपक्व रचना लिखने के बाद लेखक वैसे ही दोहरे संतोष का फल पाता है।

(2) कहानी लिखने के उपरान्त में लेखकीय दृष्टि से उसमें संशोधन या संवर्द्धन करने के लिए केंद्रित रहता हूं और विधागत पूर्णता पाता हूं।

(3) तत्पश्चात मैं उसे संपादकीय निगाह से जांचता-परखता हूं। माना संपादक हूं और यह कहानी प्रकाशनार्थ मुझे प्राप्त होती है तो मैं लेखक को इसकी स्वीकृति भिजवाऊं या संपादक के अभिवादन अथवा खेद सहित उसे वापस लौटा दूं।

(4) संपादक की कलम से उत्तीर्ण हो जाने पर मैं समीक्षक की दृष्टि से उसका मूल्यांकन करता हूं। तात्विक विवेचन के मद्देनजर समीक्षक की विध ागत समालोचना पर कहानी खरी उतरती है अथवा नहीं। इस स्टेज पर आकर भी मेरी कहानी में कई मर्तबा बदलाव हुए हैं।

(5) आलोचना की कसौटी पर जब कहानी खरी उतर जाती है तो मैं एक सुधी पाठक की पैनी नजर से उसका सूक्ष्म आकलन करता हूं। गोया कि रचना का सबसे महत्वपूर्ण मूल्यांकनकर्ता पाठक ही होता है। पाठक का पत्र पूरी ईमानदारी से साथ कथाकार के पते पर पहुंचता है। हेतु यह है कि लिखा हुआ शब्द लेखक का अपना होता है। छपा हुआ शब्द पाठक का हो जाता है। खुद की यात्रा निर्धारित होती है, प्रकाशित शब्द की यात्रा का अनुमान नामुमकिन है। पाठक की प्रतिक्रिया कहीं से भी आ सकती है।

अमित धर्मसिंह : **आप अपने लेखन के उद्देश्य और सार्थकता को कैसे देखते हैं? यह भी बताएं कि नई उभरती संबंधित रचनाकार पीढ़ी से आप क्या कहना चाहेंगे?**

सांभरिया : मेरे सृजन का प्रथम उद्देश्य शोषित-वंचित वर्ग में जागृति का भाव पैदा करना है और यह जागृति केवल शिक्षा से ही आ पाएगी। 'शिक्षा शेरनी का दूध होती है' बाबा साहब का यह मूलमंत्र है, जिसे हमें संस्कार के रूप में लेना चाहिए। नवोदित लेखकों को लिखने के साथ-साथ पढ़ना भी खूब चाहिए। क्योंकि अध्ययन शब्दों की खेती कहलाता है। लेखक को किसान की दृष्टि रखनी चाहिए। किसान अपने खेत को जितना जोतता है, उसकी फसल उतनी ही फलीभूत होती है। इसलिए हमें अध्ययन और सृजन दोनों के लिए मेहनत करनी चाहिए।

पृ.23 का शेष

भारतीय समाज को पूर्ण एवं गहराई से समझा ही नहीं जा सकता। उसका विवरण एवं विश्लेषण एकांगी लगेगा। इसलिए हम कह सकते है की भारतीय समाजशास्त्र में प्रो. नन्दू राम अगर 'निचले पायदान का संदर्श या दृष्टिकोण' का प्रतिपादन नहीं करते तो भारतीय समाजशास्त्र में स्व-प्रतिबिंबन का नितांत आभाव होता।

अतः इन दोनों तथ्यों (उनके ज्ञान के उत्पादन एवं उनके दृष्टिकोण) के अभाव में कल्पना कीजिए भारतीय समाजशास्त्र कितना अपूर्ण और वस्तुनिष्टता से परे लगता। धन्यवाद सर । भारतीय समाजशास्त्र के अधूरेपन को पूरा करने एवं इसकी गुणवत्ता को और भी बढ़ाने के लिए। पुनः धन्यवाद सर भारतीय समाजशास्त्र को समग्रता प्रदान करने के लिए। हम सभी समाजशास्त्री आपके सदैव ऋणी रहेंगे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज आप हमें भौतिक रूप से छोड़कर चले गए हैं, लेकिन आपने हमें और लाखों लोगों को जो ज्ञान दिया है, उसके जरिए आप हमारे साथ सदैव जीवित रहेंगे। हम आपसे वादा करते हैं कि हम आप द्वारा स्थापित की गयी ज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए भारतीय समाजशास्त्र की सेवा करगे।